

उन्नीसवीं सदी का हिंदी आंदोलन

ललन कुमार

पीएच.डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, भारत

इस विषय के संबंध में कुछ भी कहने-लिखने से पहले यह जानना प्रासंगिक हो जाता है कि आखिर इस उन्नीसवीं सदी के हिंदी आंदोलन का मामला क्या है? वह कौन-सी ऐतिहासिक घटना, साहित्यिक घटना या तत्संबंधी घटनाओं का क्रम है या एक समूची कड़ी है जिसे हम हिंदी आंदोलन के नाम से अभिहित करते हैं। इस संदर्भ में यदि हम एक खास ऐतिहासिक तिथि की बात करें कि अमुक तिथि से इसकी शुरुआत हुई है, तो आंदोलन के समग्र मूल्यांकन के साथ न्याय नहीं कर सकते। ज्यादा सही यह होगा कि हम एक पूरे दौर का विवेचन इस आंदोलन के परिप्रेष्य में करें।

अब, जबकि बात आंदोलन के एक पूरे ऐतिहासिक दौर की है तो हम पाते हैं कि 1868 ई. में अदालतों में फ़ारसी लिपि हटाने एवं उसकी जगह नागरी लिपि लागू करने हेतु जब राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' की ओर से सरकार को 'मेमोरैंडम' (ज्ञापन) दिया गया, यहीं से हिंदी आंदोलन की शुरुआत हुई। यह अलग बात है कि 1835 ई. के लॉर्ड मैकाले की शिक्षा नीति ने अंग्रेजी के प्रचार-प्रसार का आरम्भ किया एवं जिसके बाद अदालती भाषा का प्रश्न उठने पर पहली बार 1836 ई. में कंपनी सरकार की ओर से अदालती काम देश की प्रचलित आम भाषा में किए जाने का आदेश दिया गया। हालांकि इस आज्ञा का मुसलमानों द्वारा घोर विरोध किए जाने के परिणामस्वरूप एक वर्ष बाद ही 1837 ई. में कंपनी सरकार को अपनी आज्ञा वापस लेनी पड़ी। इसके साथ ही उर्दू को अदालती भाषा भी घोषित करना पड़ा। इतना ही नहीं विद्यालयों में भी हिंदी की शिक्षा को बंद कर दिया गया और केवल उर्दू को वर्नाक्यूलर भाषा (देशी भाषा) के रूप में स्वीकार किया गया। कालांतर में 1854 ई. के वुड डिस्पैच (चार्ल्स वुड) के अंतर्गत जब इस बात का निर्धारण किया गया कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषा हो, साथ ही देशी भाषाओं का भी अध्ययन-अध्यापन आरम्भ हो, तब भी मुस्लिम नेतृत्व ने इस बात पर जोर दिया कि हिंदी की शिक्षा को कोई स्थान न मिले। सर सैयद अहमद खान के साथ-साथ गार्साँ-द-तासी ने हिंदी का बहिष्कार करते हुए उर्दू का जोरदार समर्थन किया था। गार्साँ-द-तासी तात्कालिक लक्ष्यों की पूर्ति हेतु ऐसा कह रहे थे, किंतु सैयद अहमद के इस कदम के पीछे उनकी जोर मारती सामंती मानसिकता थी न कि कोई साम्प्रदायिक मंसूबा। देश की सत्ता में जब से मुस्लिम नवाबों का प्रभाव खत्म हो गया, तभी से भद्रवर्गीय मुस्लिम समाज भविष्य विषयक अपनी आशंकाओं के कारण एक सुरक्षात्मक मुद्रा में आ गया। सैयद अहमद द्वारा उर्दू को बढ़ावा देना उन्हीं आशंकाओं के निवारण का एक उपक्रम मात्र था। कंपनी सरकार के 1836 ई. के आदेश पर अमल

जारी रहता तो फ़ारसीदाँ सज्जनों के सामने संकट जान पड़ता- अपनी आजीविका को लेकर, सत्ता से अपने संबंधों को लेकर एवं अपने संततियों के सुरक्षित भविष्य को लेकर। आरम्भिक समय में मुस्लिम नेतृत्व द्वारा उर्दू समर्थन के कारण यही सब था। आगे चलकर अपनी जायज या नाजायज मांगों के समर्थन में इसे धर्म, सम्प्रदाय आदि के प्रतीक के रूप में जोड़ने का कुत्सित प्रयास किया गया। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि नेतृत्व के पास आत्मविश्वास की कमी थी। वे अपने समय को, अपनी पीढ़ी को और स्वयं को तो ठग ही रहे थे, साथ ही साथ एक गलत इतिहास दृष्टि के पनपने एवं फैलने के लिए भी पृष्ठभूमि का निर्माण कर रहे थे। ऐसा किसी एक पक्ष द्वारा नहीं किया जा रहा था, दोनों पक्षों के लोग इसमें शामिल थे। अच्छी-खासी हिंदुस्तानी भाषा बन चुकी थी, जिसमें आम-फ़हम हिंदी-संस्कृत एवं अरबी-फ़ारसी के सामान्य शब्दों का मिश्रण था। इस मिश्रित भाषा का दोनों पक्षों ने अपनी पुनरुत्थानवादी चेतना के जोर में आकर अलग-अलग करना शुरू किया। आज कौन इस बात से इंकार कर सकता है कि जब वह हिंदुस्तानी साझी भाषा अपने विकास के आरम्भिक चरण में थी, तभी उसने अपनी प्राकृतिक खूबी से सामयिक साहित्य को एक हँसती-खेलती, ठिठोली करती, पहाड़ी नदी की तरह झरझराती सहज-सरल भाषा दी थी, जिसकी तरफ हम आज भी हसरत एवं कौतुक भरी दृष्टि से देखते हैं। वह भाषा चाहे मुहम्मद हुसैन आजाद की हो, चाहे आगरे के रंगीलाल के 'तोता मैना की कहानी' की या फिर 'बैताल पचीसी' की।

1867 ई. में सर सैयद अहमद खान ने पश्चिमोत्तर प्रांत में देशी भाषा में एक विश्वविद्यालय खोलने का प्रस्ताव सरकार के सामने रखा। सरकार की ओर से यह पूछा गया कि देशी भाषा मतलब- कौन-सी भाषा? सैयद अहमद जो साझे उर्दू भाषी वर्ग के एक प्रभावशाली नेता थे, प्रांत की देशी भाषा या सार्वजनिक भाषा के तौर पर उर्दू को मान्यता दी। सैयद अहमद का यह कदम राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' के साथ-साथ उन सबों को बेहद नागवार जान पड़ा जो या तो खालिस उर्दू नहीं जानते थे या फिर इससे दूरी महसूस करते थे। जो लोग मिली-जुली भाषा के समर्थक थे उनके लिए भी यह कदम परेशानी का कारण बना। ऐसा होना लाज़िमी ही था, क्योंकि सैयद अहमद जिस उर्दू को सार्वजनिक भाषा के रूप में मान्यता दे रहे थे, वह भाषा चंद अभिजात कुल के लोगों की थी। इस भाषा को जानने-समझने वालों की गिनती में प्रांत की आम मेहनतकश जनता नहीं आती थी। बात तो सार्वजनिक भाषा की, की जा रही थी किंतु उससे जुड़ाव रखने वालों में मुट्ठी भर मुस्लिम अशराफों का कुनबा, कुछ कायस्थ एवं कश्मीरी पंडित शामिल

थे, जिनकी उर्दू भाषा विषयक जानकारी क्रमशः धार्मिक, पारिवारिक एवं पुस्तैनी पेशे के कारण बेहतर थी। इस आला वर्ग से आमजन गायब था।

इसके एक वर्ष बाद ही राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' ने 1868 ई. में युक्त प्रांत की सरकार को एक 'मेमोरेण्डम' (जापन)- 'मेमोरेण्डम: कोर्ट कैरेक्टर इन दी अपर प्रोविसेज ऑफ इंडिया' दिया। इसमें सरकार से विनती की गयी कि "फ़ारसी वर्णमाला अदालत से निकाल बाहर की जाए और हिंदी को उसका स्थान दे दिया जाए।" ¹ यद्यपि इस मेमोरेण्डम में अन्य मांगों भी की गई थी किंतु अन्य मांगों के साथ-साथ मुख्य रूप से अदालतों में फ़ारसी की जगह नागरी लिपि लागू करने की मांग की गई थी। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस मेमोरेण्डम में अदालती भाषा नहीं, सिर्फ उसकी लिपि बदलने की मांग की गयी थी। यहीं से हिंदी आंदोलन की शुरुआत होती है। राजा शिवप्रसाद हिंदी और उर्दू को दो अलग-अलग भाषा नहीं मानते थे। वह हिंदू और मुसलमान दोनों के द्वारा अपनी बोल-चाल में प्रयोग की जाने वाली आम-फ़हम भाषा के हिमायती थे। वे लिपि परिवर्तन की मांग के माध्यम से सरकार में बहुसंख्यक समुदाय की भागीदारी में वृद्धि चाहते थे। राजा शिवप्रसाद की भाषा-दृष्टि इस अर्थ में सैयद अहमद से अलग थी कि यह वर्गीय हित साधने की प्रवृत्ति से मुक्त थी।

इस तरह जब शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' सार्वजनिक भाषा के तौर पर उस हिंदी को मान्यता देते हैं, जिसमें अरबी-फ़ारसी के सामान्य शब्दों का मिश्रण था तो उनकी मान्यता बेहद जनवादी एवं लोकतांत्रिक मूल्यों से लबरेज जान पड़ती है। भाषा के इसी रूप का उन्होंने आजीवन समर्थन किया। उनकी मांग तो इतनी ही थी कि बतौर लिपि जिस फ़ारसी का इस्तेमाल किया जाता है, उसकी जगह नागरी लिपि का प्रयोग हो। यह एक बेहद वाज़िब मांग थी। इसे इतिहास की विडम्बना ही कहा जाएगा कि जिस हिंदी आंदोलन की मांग एक लोकतांत्रिक मांग के साथ शुरू हुई थी, वहीं मांग आगे चलकर इतने विकृत तरीके एवं अनुचित नज़रिए के साथ उठायी गयी कि हिंदी की सारी लोकतांत्रिकता एवं जनवादिता जाती रही। समय के साथ हिंदी आंदोलन का चेहरा बदरंग होता गया, साथ ही इस आंदोलन के परवर्ती नेतृत्व ने राजा शिवप्रसाद को बदनाम कर उन्हें इतिहास में हाशिए पर डाल दिया। शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' ही ऐसी शख्सियत थे, जिन्होंने अंग्रेज़ी शासन से लड़-भिड़कर पश्चिमोत्तर प्रांत में न केवल शिक्षा का माध्यम हिंदी को बनवाया, अपितु हिंदी में सुचारू रूप से शिक्षा दी जा सके इसके लिए आधुनिक विषयों की किताबें भी बतौर पाठ्यपुस्तक बनार्यीं। आगे चलकर भारतेंदु मंडल, नागरी प्रचारिणी सभा (काशी), हिंदी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) आदि संस्थाओं ने नागरी लिपि एवं हिंदी भाषा के जिस आंदोलन को आगे जारी रखा, उसे खाद-पानी राजा शिवप्रसाद ने ही दिया था। यह अलग बात है कि उन्हें बदनाम करने का सुफल भी इन्हीं लोगों ने उठाया। इन लोगों ने राजा शिवप्रसाद को इतिहास में दोहरे आघात दिए। एक तो उनके कामों को गलत तरीके से प्रचारित किया गया, दूसरी ओर उनके द्वारा शुरू किए गए आंदोलन जिसे वे अपने वर्गीय हित में साधते रहे, का भी उन्हें श्रेय नहीं दिया। हालांकि उनके अप्रतिम योगदान को तो दबी जुबान से एवं बंद कमरे में विरोधी भी स्वीकारते थे, लेकिन संतोष का विषय यह है कि वर्तमान पीढ़ी ने

उनके योगदान को सराहा है। "आज पुनर्विचार करने पर राजा साहब की नीति ही साधु और विवेकपूर्ण प्रतीत होती है।"²

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' के बाद हिंदी आंदोलन की बागडोर भारतेंदु और उनके साथियों के हाथ में आयी। 1873 ई. में भारतेंदु और दूसरे लोगों द्वारा छोटे लाट को मेमोरेण्डम दिया गया। 1882 ई. में हंटर आयोग के गठित होने पर उन्हें दर्जनों मेमोरेण्डम भेजे गए। किंतु नतीजा शून्य ही रहा। दरअसल उस समय हिंदी-उर्दू का विवाद सिर्फ सामाजिक या भाषिक विवाद मात्र नहीं था। यह सत्ता में हिस्सेदारी से जुड़ा हुआ मसला था, जिसे लेकर हिंदू-मुसलमान दोनों अपने-अपने वर्चस्व साबित करने की होड़ में लगे हुए थे और अंग्रेज सरकार बिल्लियों के रोटी बंटवारे में 'बंदर' की भूमिका निभा रही थी। उस समय अरबी-फ़ारसी युक्त भाषा और फ़ारसी लिपि का प्रयोग सरकारी दफ्तरों में होता था जिसके कारण हिंदी-अंग्रेज़ी शिक्षित युवक भी नौकरी पाने में असमर्थ था। उर्दू-फ़ारसी की अज्ञानता उनकी कमजोरी थी। इस भाषिक अज्ञानता के कारण समाज के एक खास वर्ग के अधिकांश लोग सत्ता में भागीदारी से वंचित थे। इससे हिंदी-उर्दू का यह झगड़ा जोर पकड़ता गया। 16 जुलाई, 1893 ई. को काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य हिंदी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करना था। 1897 ई. में पंडित मदन मोहन मालवीय और बाबू श्यामसुंदर दास के नेतृत्व में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा लेफ्टिनेंट गवर्नर मैकडोनाल्ड को दिया गया 60,000 (साठ हजार) विशिष्ट नागरिकों के हस्ताक्षरों का मेमोरेण्डम था, जो आखिरी एवं निर्णायक भी था। इसी के समानान्तर सर सैयद अहमद खान ने अलीगढ़ में 'उर्दू डिफेंस एसोसिएशन' की स्थापना की जिसका उद्देश्य सरकार से हिंदी और देवनागरी की मांग करने वालों का विरोध करना था। वास्तव में हिंदी और नागरी लिपि की मांग एक जनतांत्रिक मांग थी। यह न सिर्फ हिंदुओं की मांग थी अपितु औसत दर्जे के मुस्लिम अवाम की भी मांग थी। आखिरकार, जनता की बढ़ती हुई मांगों को देखकर 1900 ई. में संयुक्त प्रांत के गवर्नर मैकडोनाल्ड ने प्रांतीय राजभाषा के लिए हिंदी को उर्दू के समतुल्य दर्जा देने का ऐलान कर दिया। अब अदालतों में फ़ारसी के साथ-साथ नागरी लिपि का भी प्रयोग किया जा सकता था। मदन मोहन मालवीय के मेमोरेण्डम की लगभग सभी बातें वही थी जिसे शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' ने अपने मेमोरेण्डम (1868 ई.) में और हंटर आयोग के सामने दिए गए बयान में पहले ही कह दिया था। हालांकि इस फैसले के बाद हिंदुस्तानी भद्रवर्ग में एक स्पष्ट फांका आ गयी थी, जो मुस्लिम होने के नाते उर्दू का एवं हिंदू होने के नाते हिंदी का पक्ष ले रहा था।

हालांकि यह कतई नहीं मानना चाहिए कि भाषायी विवाद ने ही हिंदू-मुस्लिम की साझेदारी को खंडित किया था। इस संबंध में प्रेमचंद लिखते हैं, "उन्नीसवीं सदी में नागरी या हिंदी आंदोलन का मक़सद उर्दू को एकबारगी मिटा देने का नहीं था पर सैयद के मन में यह शंका बस गयी कि हिंदू, मुसलमानों को नीचा दिखाना चाहते हैं। संभव है, कुछ और कारण उपस्थित हों, जिनसे इस धरणा की पुष्टि हुई हो कि हिंदू-मुसलमान का एक होना अनहोनी बात है। दोनों जातियों में ऐतिहासिक और धर्मगत बिलगाव पहले से ही मौजूद था। नए झगड़े उठ खड़े हुए और संयुक्त राष्ट्रीयता का लक्ष्य सुदीर्घकाल के लिए हमारी

आँखों से ओझल हो गया।”³ दोनों ही वर्गों के बीच विश्वास बहाली का ऐसा दौर इतिहास में शायद ही कभी आया हो जब सब दूरियाँ मिट गयी हो, सारे भेद-भाव बह गए हों। वे एक-दूसरे के निकट होते थे लेकिन फिर भी दूर होते थे, इसके अपने ऐतिहासिक कारण थे। प्रेमचंद का इशारा संभवतः इसी ओर था कि ‘और जो उनके बीच झगड़े थे, सो तो थे ही यह एक नया झगड़ा लाद दिया गया।’ हालांकि ऐसा बिल्कुल नहीं था कि उस समय उन रास्तों पर चलने का विकल्प शेष न था, जिससे बिना आपसी सौहार्द को चोट पहुँचाए आंदोलन को जारी रखा जाता और जायज मुकाम हासिल किया जाता। अगर ऐसा नहीं हो पाया तो इसका कारण नेतृत्व के पास एक स्पष्ट नज़रिया एवं दूरदर्शिता का घोर अभाव था। वे उस समय इस बात को समझ ही नहीं पाए कि हिंदी आंदोलन के साथ हिंदुओं, उनके सांस्कृतिक विश्वासों, मूल्यों को अनावश्यक जोड़ा जा रहा है; गोरक्षा एवं हिंदी को जबरन एक-दूसरे के साथ संलग्न किया जा रहा है; हिंदी के लिए आंदोलन करने वाली संस्थाओं एवं नेतृत्व को धर्मनिरपेक्ष न रखकर साम्प्रदायिक बनाया जा रहा है- भविष्य में इसके क्या घातक परिणाम हो सकते हैं इसकी तरफ वे नहीं सोच पाएँ। उनके वे सारे कदम किस तरह भावी विध्वंसक, विघटनकारी एवं साम्प्रदायिक ताकतों के उभरने हेतु अनुकूल जलवायु तैयार कर रहे थे, इस बात का अंदाजा उन्हें शायद ही हो। अपनी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से वे जिस विष-वमन का कार्य कर रहे थे, उसी का परिणाम यह हुआ कि अपने अतीत के गौरव का अतिशयोक्तिपूर्ण दंभ भरनेवाला पश्चिमोत्तर प्रांत अपनी मूल समस्याओं- स्त्री शिक्षा, बाल-विवाह, विधवा विवाह, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि आधारभूत एवं बेहद आवश्यक मुद्दों को छोड़कर हिंदुत्व, राम-राज्य जैसे छलावेपूर्ण एवं गुमराह करने वाले दावों का दामन कसकर पकड़ता गया। हिंदी आंदोलन के कर्ता-धर्ताओं- भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, मदनमोहन मालवीय, राधाकृष्ण दास, श्यामसुंदर दास आदि- ने एक ऐसा माहौल बना दिया जिसमें विचारधाराओं के आधार पर वह गलत अथवा सही जातीय संगठन का स्वरूप लेने लगा। एक तरफ हिंदू राष्ट्र की बात ‘हिंदी-हिंदू-हिंदोस्तान’ (प्रतापनारायण मिश्र) के रूप में की जाने लगी तो दूसरी तरफ मुस्लिम लीग जैसा अलगाववादी संगठन 1906 ई. में अस्तित्व में आया, जिसने द्विराष्ट्र के सिद्धांत को प्रचारित कर पाकिस्तान के रूप में अपने मंसूबों को अमली जामा पहनाया। आज हम जब भी इतिहास में झांकते हैं तो पाते हैं कि विचारधाराओं के आधार पर बने हुए राज्य अधिक दमनकारी, नृशंस और क्रूर होते हैं। दरअसल, ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वे हमेशा बचाव की मुद्रा में रहते हैं, उन्हें बाहरी एवं भीतरी खतरों की आशंका चौकन्ना किए रहती है। व्यक्ति या राज्य जो डरा हुआ हो वह अधिक-से-अधिक आक्रामक और हिंसक होता चला जाता है। विचारधाराओं के आधार पर बने या बनने का सपना देखने वाले राज्यों के बनने-बिगड़ने की प्रक्रिया में यह एक तयशुदा सत्य है।

हिंदी आंदोलन के दौरान जिस अमूर्त हिंदू राष्ट्र-जनता की रचना की गयी और इसके प्रतिक्रियास्वरूप मोहम्मद अली जिन्ना के द्विराष्ट्रवादी सिद्धांत के आधार पर जिस मुस्लिम राष्ट्र-जनता की रचना की गयी और जिसे समय-समय पर मूर्त राष्ट्र-जनता का रूप दिया गया, दरअसल यह

एक छद्म चेतना पर आधारित थी। कहना अनावश्यक है कि यह प्रक्रिया कितनी रक्तलांछित थी एवं इंसानियत के इतिहास में गहरा धब्बा लगा गयी। एक जायज या नाजायज यथार्थ मांग को आकर्षक, अमूर्त स्वप्नों (जैसे- आदर्श हिंदू या मुस्लिम समाज का निर्माण) की पैकेजिंग के साथ उसे आमजन के बाजार में उतारकर यथार्थ मांग की प्राप्ति के बाद अमूर्त स्वप्नों के सारे दावों, वादों को आराम से ठिकाने लगा दिया गया। यह खेल तो दोनों पक्षों ने इत्मीनान से खेल लिया, लेकिन सवाल उठता है कि इस लड़ाई से उन्हें क्या मिला, जिसके नाम पर इस लड़ाई को वैधता दी गयी थी। वह अवाम तो ठगा-सा महसूस करता रहा। उसने हर तरफ से गँवाया ही। वह हिंदू या मुस्लिम होने के नाम पर लामबंद तो हो गया लेकिन उसके हिस्से सिर्फ बदहाली ही आयी, फायदा तो अभिजात्यों ने अपने हिस्से में समेट लिया। हिंदी आंदोलन पर जिस तरह से अभिजात्य नेताओं की पकड़ थी एवं जिस तरह वे संस्कृतनिष्ठता को हिंदी के साथ घोल रहे थे, उससे यह शक सहज ही पुख्ता हो जाता है कि उन्हें आम हिंदुओं की फ़िक्र न थी, फ़िक्र थी तो सिर्फ अपने वर्ग हितों की।

बहरहाल, हिंदी को संस्कृतनिष्ठ एवं उर्दू को अरबी-फ़ारसीनिष्ठ बनाकर भाषायी आंदोलन में धार्मिक आग्रह को लादकर हिंदुओं द्वारा राजा शिवप्रसाद ‘सितारेहिंद’, देवकीनंदन खत्री, अयोध्या प्रसाद खत्री, काशीनाथ खत्री, प्रेमचंद आदि की एवं मुस्लिमों द्वारा अमीर खुसरो, वली दक़नी, नज़ीर अकबराबादी आदि की भाषा-दृष्टि को उलटकर जिस एकांगी रुख का अख्तिार किया गया उसने सम्प्रदायगत खाई को चौड़ा कर एक भारतीय जातीयता की संभावना को नष्ट कर दिया। साथ ही उर्दू समेत सभी भारतीय भाषाओं को पीछे धकेलकर सिर्फ अंग्रेज़ी एवं संस्कृत, हिंदी की शब्दावली के विकास की स्रोत भाषा रह गयी, जिससे एक तरफ छद्म रूप से समाज का नियंत्रण औपनिवेशिक एवं अभिजात्य शक्तियों के हाथ में बना रहा और साधारण जनता इस भाषायी ताकत से जुड़ नहीं पायी। इस प्रकार भद्रवर्ग का नाजायज वर्चस्व कायम रहा एवं आम मेहनतकश जनता के हाथ कुछ न आया।

संदर्भ

1. हंस (मासिक पत्रिका), अंक- मार्च, 1987, संपादक- राजेंद्र यादव, आलेख- ‘भाषा समस्या और हिंदी’, लेखक- गौतम नवलखा, पृष्ठ 16 पर उद्धृत
2. डॉ. बच्चन सिंह, आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 78
3. प्रेमचंद : विविध प्रसंग- 3, हंस प्रकाशन, पृष्ठ 150